International Journal of Multidisciplinary Trends

E-ISSN: 2709-9369
P-ISSN: 2709-9350
www.multisubjectjournal.com
IJMT 2025; 7(9): 71-76
Received: 09-07-2025
Accepted: 14-08-2025

रमेश चन्द्र बैरवा
(सह आचार्य), दर्शनशास्त्र विभाग, एस. एन. के. पी. राजकीय महाविद्यालय नीमकाथाना, सीकर, राजस्थान, भारत

Corresponding Author:
रमेश चन्द्र बैरवा
(सह आचार्य), दर्शनशास्त्र विभाग, एस. एन. के. पी. राजकीय महाविद्यालय नीमकाथाना, सीकर, राजस्थान, भारत

पर्यावरणीय महत्व एवं संरक्षण : जैन आचारमीमांसा के विशेष संदर्भ में

रमेश चन्द्र बैरवा

सारांश
मानव सभ्यता के विकास के साथ–साथ प्राकृतिक में व्याप्त संसाधनों का दोहन दिन–प्रतिदिन बढ़ा गया, जिसके परिणामस्वरूप विकट पर्यावरणीय संकट गहराता जा रहा है, जिसमें जलवायु परिवर्तन, वनों की कटाई, प्रदूषण और जैव–विविधता का ह्रास आदि आज के युग की प्रमुख समस्याएँ हैं। ऐसे समय में पर्यावन महत्व एवं संरक्षण के लिए जैन आचारमीमांसा विशेष रूप से महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसकी आचारनीति प्रकृति और जीव–जगत के संरक्षण पर आधारित है। सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, संयम और सर्व जीव दया जैसे जैन धर्म के मूल सिद्धांत किस प्रकार केवल मानव के लिए नहीं, बल्कि संपूर्ण जगत में सभी प्राणियों के लिए समान–रूप से प्रासंगिक व महत्वपूर्ण हैं, का आधुनिक समाज से संबंध पर अध्ययन करने का प्रयास किया गया है।

कूटशब्दः जलवायु परिवर्तन, पर्यावरणीय संकट, प्रदूषण, जैव–विविधता, अहिंसा, अपरिग्रह, सर्वजीव दया

प्रस्तावना
पर्यावरण भौतिक परिस्थितियों का एक ऐसा समुच्चय है, जो पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, वनस्पति कायिक स्थावर जीवों तथा ऐकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय त्रासकायिक जीवों से बना है। अतः पर्यावरण को एक पूर्णयोग के रूप में समझना चाहिए। जिसके प्रत्येक तत्व की, चाहे वह सबसे छोटा हो या सबसे बड़ा, पारस्परिक सहजीवन में समान महत्ता रखता है। इसकी तुलना किसी भी जैविक ईकाई से की जा सकती है, जिसमें असंख्य अणु होते हैं, तथा प्रत्येक अणु सम्पूर्ण शरीर अथवा समस्त अणुओं के लिये तथा समस्त अणु उस एक अणु के लिऐ कार्य करते हैं। उपर्युक्त संदर्भ में जैन दर्शन के अन्तर्गत समानता की अवधारणा एक महत्वपूर्ण आधारभूत सिद्धान्त है। जिसमें समान्यतः अजीव समझेजाने वाले पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक एवं वनस्पतिकायिक को जीव माना जाता है। इस प्रकार जीव की अवधारणा जैन दर्शन की अप्रतिम देन है। चेतन द्रव्य को जीव या आत्मा कहते हैं। जैन दार्शनिकों के अनुसार पंचेन्द्रिय त्रसजीवों से लेकर ऐकेन्द्रिय स्थावर जीवों में भी चेतना पाई जाती है। पंचेन्द्रियजीव है मनुष्य, पशु, पक्षी आदि, चतुरिंद्रिय है भ्रमर आदि, त्रीन्द्रिय है पिपीलिका आदि, द्वीन्द्रिय है घोंघा आदि तथा स्थावर एकेन्द्रिय जीव है क्षिति, जल, अग्नि, वायु या वनस्पति में रहने वाले जीव। इस प्रकार जैन दर्शन पर्यावरण के सभी तत्वों या घटकों को मनुष्य के समान स्थान देकर अपनी विशिष्टता का प्रमाण देता है। मनुष्य के जीवन में सहायक प्राकृतिक संसाधन, पृथ्वी (मिट्टी, खनिज आदि), पानी, अग्नि, हवा तथा पौधों को अपने समान चेतन मानकर तथा उसी प्रकार उनके साथ व्यवहार करने से उन्हें हानि पहुँचाने की सम्भावना बहुत कम हो जाती है।

अध्ययन के उद्देश्य
- पर्यावरणीय महत्व एवं संरक्षणः जैन आचारमीमांसा के विशेष संदर्भ में, विषय पर अध्ययन कर जानकारी प्राप्त करना।
- पर्यावरणीय संरक्षण पर आधारित जैन आचारनीति का अध्ययन करना।
- पर्यावरणीय महत्व एवं संरक्षण का आधुनिक संबंध में अध्ययन कर जानकारी प्राप्त करना।

अध्ययन शोध विधि
उक्त शोध पत्र में 'पर्यावरणीय महत्व एवं संरक्षणः जैन आचारमीमांसा के विशेष संदर्भ में', का मूल्यांकन हेतु विषय से संबंधित संदर्भ पुस्तकों, शोध–पत्रिकाओं, इंटरनेट, समाचार–पत्र, पत्रिकाओं में प्रकाशित लेख, विषय विशेषज्ञों द्वारा दिये गये व्याख्यान, लिखित लेख, सरकारी संगठनों की रिपोर्ट आदि का संकलन कर विश्लेषण करने के लिए वर्णनात्मक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन पद्धति का प्रयोग कर निष्कर्ष निकालने का प्रयास किया गया है।

जैन आचारमीमांसा और पर्यावरणीयनीति व सिद्धान्त

जैन आचारमीमांसा पर आधारीत निम्न विशिष्ट पर्यावरणीयनीति, अवधारणाओं आदि को अगर पूर्णतया आत्मसात् कर उसके अनुसार आचरण किया जाए तो निश्चिय ही एक शांत एवं स्वस्थ पर्यावरण की प्राप्ति संभव है। अतः जैन आचारमीमांसा के सिद्धान्त व पर्यावरणीयनीतियों का आगे विस्तार से वर्णन किया गया है।

1. अंहिसाः पर्यावरण समस्या एवं संरक्षण

'अहिंसा' जैन दर्शन का प्राण हैं, इसे जैन दर्शन का आदि एवं अंत भी कहा जा सकता है। सम्पूर्ण जैनाचार अहिंसा पर ही आधारित है। किसी जीव के प्रति किसी भी प्रकार की हिंसा (मानसिक, कायिक, वाचिक) न करना, उन्हें जीवन से वंचित न करना, उनपर शासन न करना, न ही उनको सताना आदि अहिंसा की अवधारणा हैं। जैन दर्शन के अनुसार मनुष्यों की भांति ही पशुओं, प्राकृतिक संसाधनों, पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वनस्पति आदि सभी जैविक ईकाईयाँ है, तथा प्रत्येक की अपनी क्षमताएँ हैं, एवं उसी के अनुसार प्रत्येक में बदलाव एवं पुनर्यूवीकरण संभव होता है। इसी प्रकार सबलता तथा निर्बलता मनुष्य एवं पशुओं की क्षमताओं में भी अन्तर किया जा सकता है। कुछ में तनाव को सहन करने की क्षमता अन्य से अधिक होती है। लेकिन प्रत्येक में सहन करने की एक अधिकतम सीमा होती है, उस सीमा के आगे भी अगर तनाव बना रहता है तो वह जीव प्रताड़ित होगा, दुर्बल होगा या संभवतः उसकी मृत्यु भी हो सकती है। यह परिस्थिति प्राकृतिक संसाधनों पर भी लागू होती है, जैसे कि एक स्थान विशेष में एक वृक्ष विकसित होता है उसी के अनुपात में सम्पूर्ण वन विकसित होता है।

कार्बन डाईआक्साइड का उत्सर्जन सर्वाधिक विभिन्न मानवीय क्रियाओं जैसे खाना पकाने में, ईंधन जलने से, परिवहन एवं उद्योगों एवं जीवों द्वारा वातावरण में छोड़ी जाती है तथा यही कार्बन डाईऑक्साइड़ को पौधों द्वारा प्रकाश संश्लेषण की प्रक्रिया के तहत् विभिन्न उत्पादों जैसे फल, बीज, तंतु, रसायन, औषधि आदि के संश्लेषण हेतु उपयोग में ली जाती है। अगर यह कार्बन डाई ऑक्साइड मनुष्यों एवं पशुओं द्वारा नहीं छोड़ी जाएगी तो वातावरण में ऑक्सीजन की मात्रा अधिक हो जाएगी जो कि हानिकारक है। वहीं कार्बन डाईऑक्साइड की कमी के कारण पौधों द्वारा संपन्न उपयोगी उत्पादों के संश्लेषण की प्रक्रिया रूक जाएगी। दूसरी तरफ अगर कार्बन डाई ऑक्साइड का विसर्जन पौधों की क्षमता से अधिक होगा तो अधिक हानिकारक प्रभाव होगें जैसे कि ग्रीन हाउस इफेक्ट, मौसम परिवर्तन आदि।

इसी प्रकार चट्टानों, खनीजों एवं भूमि की भी अपनी क्षमताएँ हैं तथा इनका भी पुनर्युवीकरण होता है। पूर्व में कृषि योग्य भूमि को एक वर्ष के लिये खाली छोड़ दिया जाता था, ताकि वह अपनी प्राकृतिक उत्पादकता पुनः प्राप्त कर सकें, अर्थात् एक साल में एक फसल की व्यवस्था थी, परन्तु वर्तमान में एक साल में उसी भूमि पर तीन फसलें प्राप्त की जाती हैं। जिससे भूमि की उर्वरता में कमी आती है। उर्वरता की इस क्षतिपूर्ति हेतु अधिक मात्रा में रसायनिक उर्वरक भूमि में डाले जाते हैं, जो कि इसकी प्राकृतिक उत्पादकता को समाप्त कर देते है। अतः यह कहना गलत नहीं है कि मनुष्य के द्वारा किये जा रहे अतिदोहन के कारण प्राकृतिक संसाधनों की पर्याप्तता में कमी आई है। साथ ही कई प्राकृतिक सम्पदाएँ तो लुप्त हो चुकी हैं। हमारी आने वाली पीढ़ियों एवं अन्य जीवों को प्रकृति द्वारा प्रदत्त इन वरदानों से वंचित करके भी हम हिंसा के भागी हो रहे हैं। एक तरफ तो हम चाहते हैं कि हमारी आने वाली संततियाँ खुशहाल रहें, वहीं दूसरी तरफ अतिमहत्वपूर्ण संसाधन जैसे क्रूड ऑयल, खनिज एवं वन आदि का अतिदोहन कर रहे हैं जिससे आने वाली संततियों के लिए बचेगा ही नहीं। इतना ही नहीं भूमि, जल, हवा आदि को हम इतना अधिक प्रदूषित करते जा रहे हैं कि आने वाले समय में मानव जीवन संभव न हो सकेगा।

प्रबुद्ध जैन विचारकों द्वारा इन परिस्थितियों एवं परिणामों को पहले ही भाँप लिया गया था। अतः उन्होंने इस अपक्षय को जाँचने एवं चिरस्थायी स्वस्थ वातावरण बनाने के लिये उपाय भी सुझाए हैं। जैन धर्म द्वारा उपदिष्ट इन उपायों में सबसे सर्वश्रेष्ठ उपाय है 'अहिंसा का सिद्धान्त'। जैन दर्शन में अहिंसा को इतना महत्व दिया गया है कि यह न केवल जैन दर्शन की पहचान बन गया है बल्कि इसका पर्यायवाची भी समझा जाने लगा है। फलतः जैन दर्शन का मुख्य उद्घोष है "अहिंसा परमोधर्मः" जैन दर्शन में श्रावक व श्रमण के लिये पाँच व्रत्तों का पालन अनिवार्य है जो कि हैं– अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह। इनमें से अहिंसा सबसे महत्वपूर्ण व्रत हैं तथा अन्य चार इसके सहायक व्रत हैं जो इसे बल प्रदान करते हैं।

2. सत्य अणुव्रतः पर्यावरण समस्या एवं संरक्षण

सत्य का सिद्धान्त अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। अहिंसा व्रत को बल प्रदान करने व सामाजिक एवं प्राकृतिक समरसता को बनाए रखने के लिये आवश्यक है। सत्य एक प्रतिबद्धता है, गलत, हिंसक तथा अंधविश्वासों के विरूद्ध सही एवं तर्कसंगत विचारों की। यह एक कड़वा सत्य है कि मनुष्य का मानवकेन्द्रित दृष्टिकोण विस्फोटक जनसंख्या एवं बढ़ते उपभोक्तावाद के कारण हमारे पर्यावरण प्राकृतिक एवं सामाजिक स्तर पर विकृत होता जा रहा है। मनुष्य वैज्ञानिक तथ्यों एवं प्रमाणों को नकारते हुए अभी तक यही मानता है कि प्राकृतिक संसाधन अनन्त है अर्थात् वे कभी समाप्त नहीं हो सकते जबकि मनुष्य का यह मत असत्य है। मनुष्य को सत्य स्वीकारना होगा एवं सत्य का पालन करते हुए सम्पूर्ण मानव जाति एवं अन्य जीवों के जीवन पर मंडराते संकट के कारणों को दूर करना होगा।

वर्तमान समय में बढ़ती सामाजिक अशांति, विवाद, विरोध एवं युद्ध का मुख्य कारण मिथ्यात्व एवं असत्य विचार जिसके अन्तर्गत हैं अविश्वास, धोखा, श्रेष्ठता एवं हीनता की भावना। सत्य से परिपूर्ण मार्ग पर चलकर दूषित होते प्राकृतिक एवं समाजिक पर्यावरण में सुधार लाया जा सकता है। अतः आवश्यकता है सत्य को और अधिक विस्तृत परिप्रेक्ष्य में समझने एवं पालन करने की। जैन आचार्यों ने सत्य के सभी पक्षों, उनके विस्तार एवं प्रकारों की व्याख्या की है, समस्त अतिक्रमणों एवं दोषों से रक्षण हेतु।

"संच्चसि धिरं कुव्वह" 3/2/35 (आचारांग सूत्र)

जैन शास्त्रों में कहा गया है कि सत्य अणुव्रत के पालन में अन्य की निन्दा करना, परिहास करना, शास्त्रों के प्रति संदेह उत्पन्न करने वाले वक्तव्य, पशुओं का अंगच्छेदन, किसी भी जीव का शोषण (प्राकृतिक संसाधन भी इसमें समन्वित हैं), गलत व्यापार, चोरी, ऐसे शब्दों का उपयोग जिनसे संताप, पीडा, क्रोध, विवाद एवं विरोध उत्पन्न हो के लिये कोई स्थान नहीं है। अतः सत्य को इतने विस्तृत परिप्रेक्ष्य में समझने एवं उसका पालन करने से, अवश्य ही हम अपने प्राकृतिक एवं सामाजिक पर्यावरण को दूषित होने से बचा सकते है।

3. अस्तेय अणुव्रतः पर्यावरण समस्या एवं संरक्षण

तत्वार्थ सूत्र में कहा है कि "बिना आज्ञा के किसी वस्तु को लेना अस्तेय है।" अस्तेय अणुव्रत की पालना में चोरी को वर्जित माना गया है। चौरी का अर्थ है अन्य की वस्तुओं, निवास एवं सम्पत्तियों को जबरदस्ती अथवा अनुचित साधनों से हड़पना एवं उनका शोषण करना, यह हिंसा है। इस प्रकार अस्तेय अणुव्रत अहिंसाणुव्रत का समर्थन करता है। अस्तेय का सिद्धान्त केवल मनुष्यों के मध्य ही नहीं बल्कि अन्य जीवों के संबंध में भी लागू

होता है। किसी को भी किसी भी प्रकार के जीव की संपत्तियों अथवा अधिकारों को छीननें व उनका शोषण करने का अधिकार नहीं देता है। प्राकृतिक संसाधन जैसे भूमि, जल, वायु, पौधे आदि को जीव माना गया है एवं इनकी क्षमता से अधिक इनका अवशोषण करना भी अस्तेय है।

प्रकृति, अपने संसाधन का स्वेच्छा से हम मनुष्यों को उपलब्ध कराती है, जैसे एक वृक्ष अपने फलों को स्वतः ही पृथ्वी पर गिराता है, ताकि हम मनुष्य एवं पशु उन्हें खा सकें। प्रकृति में प्रत्येक संबंध परस्पर हितों से जुड़ें हैं। मनुष्य एवं पशु उन फलों को खाकर पोषण प्राप्त करते हैं तथा उनके बीजों को इधर–उधर बिखेरकर वृक्षों की मदद करते हैं। ज्वालामुखी भी विभिन्न उपयोगी खनिज उत्पन्न करती है। वायु प्रसारण एवं जल प्रसारण भी प्राकृतिक है तथा जीवों की सहायता करती हैं। भूमि द्वारा स्वयं ऐसे पौधे उत्पन्न होते है जो मनुष्य एवं अन्य जीवों की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। पौधे स्वेच्छा से हमें विभिन्न उत्पाद प्रदान करते हैं जैसे पत्तियाँ, फूल, फल, तना, गोंद, लाख, औषधि आदि। पौधे अपना जीवन–काल पूर्ण कर प्राकृतिक रूप से नष्ट हो जाते हैं एवं उनकी इस सूखी लकड़ी का उपयोग भी गृह निर्माण में कर लिया जाता है।

इस प्रकार अस्तेय से आशय है, प्राकृतिक संसाधनों से केवल वहीं एवं उतना ही प्राप्त करना जितना उनके द्वारा प्रकृति की ओर से प्रदान किया जाता है। जैन दर्शन में किसी को भी हानि न पहुँचाने का उपदेश दिया जाता है। जैन दर्शन के अनुसार हमें जितना प्रकृति से प्राप्त होता है हमें उसकी भरपाई भी करनी चाहिये, वृक्षारोपण करके एवं जल व वायु को स्वच्छ एवं प्रदूषण से मुक्त रखकर। इस प्रकार अस्तेय अणुव्रत का अत्यन्त महत्व है, पर्यावरणीय स्वास्थ्य में।

4. अपरिग्रह अणुव्रतः पर्यावरण समस्या एवं संरक्षण

'अपरिग्रह' जैन दर्शन का महत्वपूर्ण सिद्धान्त है, तथा यह पंचअणुव्रतो में से एक है जिसका उपदेश श्रावकों एवं श्रमणों के लिये दिया गया है। इससे आशय है गैर–उपभोक्तावाद अर्थात सामाजिक समरसता को बढ़ावा देना, ताकि प्राकृतिक संसाधनों के अनियंत्रित शोषण को रोका जा सके। प्रबुद्ध जैन आचार्यों द्वारा वर्षों पूर्व ही उपभोक्तावाद पर नियंत्रण रखने की सलाह दे दी गई थी एवं ऐसे व्रत भी निर्धारित कर दिये थे जिनसे इच्छाओं को न्यूनतम तक सीमित किया जा सके। जैसे–जैसे अंधाधुंध आर्थिक विकास एवं औद्योगिकीकरण हो रहा है वैसे–वैसे ही उपभोक्तावाद भी बढ़ता जा रहा है। अमर्यादित उपभोग के फलस्वरूप प्राकृतिक संसाधनों पर भी दबाव बढ़ता जा रहा है, अर्थात् उनकी अन्तर्निहित क्षमता से अधिक उनका शोषण हो रहा है, जिससे कई संसाधन तो लुप्त होते जा रहे हैं। अतः वर्तमान में उपभोक्तवादी संस्कृति ही अत्यन्त नुकसानदेह कारण है, पर्यावरण विकृति का।

जैन आचार्यों द्वारा उपभोक्तावाद के मूल कारणों का बहुत ही गहनता से परीक्षण किया गया है। इस उपभोक्तावाद के मूल कारण है, ऐन्द्रिय सुखों में आसक्ति, असीमित इच्छाएँ तथा अधिक–से–अधिक साधनों को प्राप्त करने का आवेश। मनुष्य की इच्छाओं के प्रति इस तर्कहीन आसक्ति एवं लालच को 'मूर्च्छा' कहा जाता है, जो कि बेहोशी की ऐसी अवस्था है जिसमें मनुष्य अपना विवेक खो देता है।

"मूर्च्छा परिग्रहो।" 7/17।। तत्वार्थ सूत्र

असीमित परिग्रह का मूल कारण है इच्छाओं एवं वासनाओं के प्रति आसक्ति ।

"एयमेव एगेसिं महब्भयं भवइ" 115/2/36011 आचारांग सूत्र

अर्थात् उपभोक्तवाद अत्यन्त भयावह व संकटपूर्ण है। जैन आचार्यों ने इसे पूर्व में ही जान लिया था कि इस उपभोक्तावाद के परिणाम ग्रीन हाउस प्रभाव, मौसम परिवर्तन, पानी व खाद्य की कमी, प्रदूषण एवं पर्यावरण के क्षरण के रूप में प्रकट होंगे। जैन आचार्यों के अनुसार मनुष्य के उपभोग को कुछ समय सीमा के लिये रोक देने के अभ्यास से उपभोक्तावाद में अवश्य ही कमी आएगी। जैन दर्शन में तो खाद्य व जल के उपभोग में कमी लाने का उपदेश दिया गया है। इस प्रकार जिस व्यक्ति की आवश्यकताएें सीमित हो जाती है वह विभिन्न इच्छाओं की पूर्ति में होने वाली हिंसा से भी बच जाता है। इस प्रकार अपरिग्रह द्वारा अहिंसा का पालन भी सरल हो जाता है, और प्रकृति पर भी बढ़ते दबाव में कमी देखने को मिलेगी। खाद्य व जल की कमी भी दूर होगी व पर्यावरण क्षरण भी रूक जाएगा। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड, प्रकृति एवं समाज में शांति एवं समरसता होगी।

5. मांसाहारः पर्यावरण समस्या एवं संरक्षण

जैन धर्म में 'परस्परोपग्रहो जीवाना' का सिद्धांत है, जिसका अर्थ है– सभी जीव एक–दूसरे पर आश्रित हैं। यह सिद्धांत आधुनिक पारिस्थितिकी से मेल खाता है और जैव–विविधता के संरक्षण का समर्थन करता है। जैन दर्शन में मांसाहार से दूर एवं शाकाहारी बनने का उपदेश दिया गया है।

"सत्वामगंधं परिण्णाय णिरामगंघो परिव्वए"। 2/5/98 आचारांग सूत्र

अर्थात् व्यक्ति को अशुद्ध मिलावटी भोजन को छोड़कर पूर्ण एवं शुद्ध शाकाहारी बनना चाहिये। शाकाहार पर्यावरण सुरक्षा के लिये बहुत ही फायदेमंद है, क्योंकि एक मांसाहारी लगभग दस गुणा अधिक ग्रहण करता है, एक शाकाहारी से, जिससे पर्यावरण पर भी दबाव बढ़ता है। पशु एवं पक्षी जो वनस्पति खाते हैं, उसका 90 प्रतिशत अपनी उपापचय (Metabolism) प्रक्रिया हेतु उपयोग में लाते हैं एवं केवल 10 प्रतिशत ही मांस के रूप में एकत्रित करते हैं। इस प्रकार एक मांसाहारी उन पशु–पक्षीयों का भक्षण कर अप्रत्यक्ष रूप से वनस्पति का केवल 10 प्रतिशत ही ग्रहण कर पाता है। अतः उसे उस वनस्पति, जल, खाद आदि का दस गुना अधिक ग्रहण करने की आवश्यकता होती है, प्रत्यक्ष रूप से वनस्पति ग्रहण करने की अपेक्षा। फलस्वरूप प्रकृति पर दबाव बढ़ता जाता है। अतः मनुष्य को चाहिये कि वह पूर्ण शाकाहारी बनें। शाकाहार का पालन पंचअणुव्रतों की अनुपालना में भी सहायक सिद्ध होता है, क्योंकि शाकाहारी अहिंसा, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य का प्रत्यक्ष रूप से दृढ़ पालन करता है।

जैन दर्शन में शाकाहारी के लिये सूर्यास्त से पूर्व ही आहार ग्रहण करलेने का भी प्रावधान है। इस तथ्य का भी वैज्ञानिक आधार है। एक शांतिपूर्ण खुशहाल सामाजिक वातावरण की परमावश्यक शर्त है अच्छा स्वास्थ्य। हमारे खाने व सोने के मध्य 3–4 घंटे का अन्तर होना आवश्यक है। अगर सूर्यास्त से पूर्व भोजन ग्रहण किया जाए तो यह अन्तर स्वतः ही बन जाता है। किन्तु जो लोग देर से भोजन ग्रहण करते हैं वे खाने के तुरन्त बाद ही सो जाते हैं, जिससे उन्हें उदर संबंधी अन्य रोग हो जाते हैं। वैसे भी किसी कृत्रिम प्रकाश से कहीं अधिक दृश्यता सूर्य के प्रकाश में होती है। दिन के प्रकाश में भोजन कर लेने से ऊर्जा की बचत भी होती है, जिससे पर्यावरण संरक्षण में सहायता होती है।

जैन दर्शन में शहद के उपयोग का निषेध एक विशिष्ट विचार है। न केवल मधुमक्खियों के साथ होने वाली हिंसा के संदर्भ में बल्कि पर्यावरण के सन्दर्भ में भी इसका अत्यन्त विस्तृत महत्व है। मधुमक्खियाँ परागण (Pollination) की प्रक्रिया का एक साधन है। हमारे तीन–चौथाई खाद्य पदार्थों, विभिन्न फसलों का उत्पादन मधुमक्खियों व अन्य किटों द्वारा किये जाने वाले क्रास–पॉलिनेशन

पर निर्भर करता है। ऐसे में मधुमक्खियों के छातों को नष्ट करके शहद निकालने से उनकी आबादी में कमी आई है। फलस्वरूप खाद्य फसलों एवं वन उत्पादों के उत्पादन पर भी बुरा प्रभाव पड़ा है।

6. कर्मः पर्यावरण समस्या एवं संरक्षण

जैन दर्शन में कर्म का सिद्धान्त भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जैन दर्शन के कर्मवाद के अनुसार जीव के द्वारा संपादित समस्त क्रियाएँ उसके कर्म हैं, अर्थात जीव कर्ता है।" जीव स्वयं के कर्मों के कारण ही बंधन में पड़ता है तथा स्वयं के कर्मों से ही मोक्ष प्राप्त करता है, अर्थात् जीव भोक्ता भी है। इस प्रकार जीव अपनी नियति का निर्माता स्वयं है। अतः जैन दर्शन के कर्मवाद की तार्किक परिणिति निर्यातिवाद है। मनुष्य जीवन इसी कर्म सिद्धान्त पर आधारित एवं संचालित होता है। इसलिये अपने हर कर्मफल का उत्तर्दायित्व स्वयं उसका अपना है। वह जो भी अच्छे–बुरे, शुभ–अशुभ परिणाम भोग रहा है वह उसके अपने पूर्वकृत कर्मों का परिणाम है, तथा वह अपने वर्तमान कार्यों से अपने भविष्य का निर्माण भी कर रहा है।

"कडाण कम्माण न मोक्ख अत्यि"।। 4/3।। उत्तराध्ययन सूत्र

अर्थात् व्यक्ति के सुख व दुःख उसके स्वयं के अच्छे–बुरे कर्म का फल हैं एवं वह उनसे बच नहीं सकता। इस प्रकार यह सिद्धान्त मनुष्य को उचित कर्मों द्वारा उचित मार्ग पर चलने की प्रेरणा देता है, अर्थात् कर्म सम्यक् होगें तो उनके फल भी सम्यक् होंगे। मनुष्य के कर्म तभी सम्यक होंगे जब उसके मिथ्यात्व का अन्त होगा। मनुष्य की यह मिथ्या सोच है कि मानव स्वामी है, और शेष प्रकृति उसकी दास है। जब यह मिथ्या सोच दूर होगी और वह स्वयं को प्रकृति के अंश के रूप में देखने लगेगा तभी उसके कर्म सम्यक् बनेंगे। मानव के बुरे कर्मों के कारण ही हमारे प्राकृतिक पर्यावरण का क्षय व प्रदूषित हुआ है। अतः जब मानव अच्छे कर्म करेगा एवं प्रकृति का उपभोग उसके सामर्थ्य अथवा क्षमता के अनुरूप करेगा तो धीरे–धीरे समस्त प्रदूषण समाप्त हो जाएगा। फलस्वरूप मानव के स्वयं के कर्मों से ही पर्यावरण स्वच्छ व शुद्ध होगा।

7. सम्यकत्वः पर्यावरण समस्या एवं संरक्षण

सम्यकत्व संपन्न श्रावक से एक समय में परिस्थिति विशेष में अधिकतम उपर्युक्त एवं तर्कसंगत व्यवहार की अपेक्षा की जाती है। सम्यक्त्व व अंधविश्वास एक–दूसरे के विलोम शब्द हैं। सम्यक्त्व में अंधविश्वास, रिवाज, चमत्कार, मंत्र आदि किसी के लिये कोई स्थान नहीं होता, क्योंकि जैन दर्शन के कर्मवाद के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने ही कर्मों के फल रूप में सुख–दुःख भोगता है। अतः उसके बुरे कर्मों के फल रूपी कष्ट भी वह स्वयं के प्रयासों से ही दूर कर सकता है। जैन दर्शन में मोक्षप्राप्ति का मार्ग प्रशस्त होता है, रत्नत्रय की धारणा में। रत्नत्रय है, सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक चारित्र। तत्वार्थाधिगम सूत्र में ही उमास्वामी ने कहा है– "सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्राणिमोक्षमार्गः।" अर्थात् सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र ही मोक्ष के मार्ग हैं, तीनों के सम्मिलित होने पर ही मोक्ष प्राप्त होता है, एवं मोक्ष आत्मा को अलंकारित व सुसज्जित करता है। अतः लगता है कि ये त्रिरत्न मानों जीवन के अलंकार है। सम्यक् दर्शन है तत्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शनम् अर्थात् तत्व के यथार्थज्ञान के प्रति श्रद्धा का होना, जो कि एक प्रकार से सम्पूर्ण जगत् में उपस्थित समस्त तत्वों के ज्ञान के प्रति श्रद्धा ही है।

सम्यक् ज्ञान में जीव और अजीव के मूल तत्वों का विशेष ज्ञान प्राप्त होता है। जीव और अजीव तत्व आत्मा एवं सृष्टि का भौतिक जड़ पदार्थ हैं। सम्यक् ज्ञान असंदिग्ध एवं दोषरहित होता है। सम्यक् चरित्र है अहित कार्यों का वर्जन और हित कार्यों का आचरण। इन त्रिरत्नों के आशय से यह पूर्णतः स्पष्ट होता है कि जितना इनका आध्यात्मिक महत्व है उतना ही व्यावहारिक महत्व भी है। जैन दर्शन के त्रिरत्न को सम्यक्त्व भी कहते है। सम्यक्त्व के पालन से न केवल श्रावक का आत्माविकास होता है, बल्कि उसे सम्पूर्ण प्रकृति का यथार्थ ज्ञान भी प्राप्त होता है, साथ ही उसका आचरण भी स्वंय उसके एवं अन्यों के लिये भी हितकर बनता है। इस व्यावहारिक ज्ञान से मनुष्य अपनी जीविकोपार्जन की आधारभूत आवश्यकता के लिये उन्हीं व्यापारों एवं उद्योग धन्धों से सबंद्ध होता है, जो उसके लिये हितकारी है। हमारे प्राकृतिक पर्यावरण के लिये प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव का कथन है कि जीविकोपार्जन हेतु असि, भसि, कृषि, शिल्प, वाणिज्य आदि छः योग्य कार्य से पर्यावरण को अल्पतम हानि होती हैं।

8. सहजीविताः पर्यावरण समस्या एवं संरक्षण

सहजीविता से आश्य किसी व्यक्ति अथवा समूह की वे क्रियायें जिनसे पारस्परिक लाभ हो तथा किसी को किसी प्रकार की हानि न पहुँचे। जीवन के किसी भी प्रकार की ईकाई अथवा समूह अगर परस्पर रूप से मिलकर रहें तो निश्चय ही उनका जीवन खुशहाल एवं शांतिपूर्ण होगा। इसके विपरीत अगर वे एक–दूसरे को नुकसान पहुँचाते हैं तो वे दुःखी होंगे। प्रकृति में पूर्व से ही पारस्परिकता व्याप्त है तथा उसके विभिन्न सजीव एवं निर्जीव तत्व एक–दूसरे के साथ बहुत ही सहजता से गूंथे हुए हैं, जो अत्यन्त सहज एवं निश्चित प्रकार से परस्पर निर्भर हैं। जीवन के कृमिक विकास का मूल आधार ही सहजीवन एवं अनुकूल वातावरण है।

तत्वार्थ सूत्र के पाँचवे अध्याय में उमास्वामी ने कहा है। "परस्परोपग्रहो जीवानाम्" अर्थात् समस्त जैविक ईकाईयाँ परस्पर कल्याण हेतु हैं। जीवन की सबसे छोटी ईकाई का भी पूर्ण ईकाई के लिये बहुत महत्वपूर्ण लाभदायक भूमिका है। शांति एवं खुशहाली हेतु सम्पूर्ण प्रकृति की भांति मानव समाज में भी व्यक्ति, समूह व राष्ट्रों के मध्य पारस्परिक हितकारी एवं संपूरक संबंध आवश्यक है। सहजीवी संबंधों से आशय है दुर्बल, असमर्थ, गरीब, रोगी एवं वृद्धों की सहायता करने को अपना कर्तव्य समझना एवं बाध्य होना। यह प्रत्येक समाज का कर्तव्य है कि ऐसे लोगों की देख–भाल करें, क्योंकि कोई भी किसी भी वक्त ऐसी अक्षमता से ग्रस्त हो सकता है। परन्तु मनुष्य ही प्रकृति में व्याप्त इस असंगति का मुख्य कारण है। अगर मानवता सहजीविता के प्राकृतिक कानून को समझें, आत्मसात् करें एवं पालन करें तो न केवल मनुष्य, बल्कि सभी जैविक ईकाईयाँ एवं सम्पूर्ण पर्यावरण भी स्वस्थ, शांतिपूर्ण एवं सुसंगत बनेंगे।

9. श्रावकाचारः पर्यावरण समस्या एवं संरक्षण

श्रावक की आचार संहिता को श्रावकाचार कहते हैं। श्रावक में गुरोपदेश एवं शास्त्राध्ययन से जो श्रद्धा उत्पन्न होती है उसके आधार पर व्रतानुष्ठानों का पालन कर वह स्वयं तो शुद्ध बनता ही है, साथ ही अपने वातावरण को भी शुद्ध बनाता है। ये व्रतानुष्ठान है पंचअणुव्रत, गुणव्रत, एवं शिक्षाव्रत, मद्य–मांस, मधु का त्याग, रात्रि भोजन का त्याग एवं पानी छानकर पीना। इन व्रतानुष्ठानों के पालन से श्रावक न केवल समाज के लिये एक आदर्श प्रस्तुत करता है, बल्कि इन गुणों एवं व्रतों से युक्त जीवनशैली अपनाकर पर्यावरण संरक्षण के प्रतिमान को प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त करता है।

10. श्रावक के गुणव्रतोंः पर्यावरण समस्या एवं संरक्षण

गुणव्रत उन व्रतों को कहा जाता है जो व्यक्ति के गुणों को बढ़ाते है। स्वामी समंतभ्रद ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में दिग्विरति, अनर्थदण्डविरति व भोगोपभोग परिमाण ये तीन गुणव्रत हैं।

दिग्विरतिगुणव्रत के पालन में श्रावक केवल दस दिशाओं (चार दिशाए, चार विदिशाए व ऊपर तथा नीचे) में ही गमन करने की मर्यादा में स्वयं को बांधता है। अतः श्रावक मर्यादा से बच जाता है। वस्तुतः पर्यावरण के असंख्य जीवों के प्राणों की रक्षा होती है, जिससे पर्यावरण संवर्द्धन होता है। द्वितीय गुणव्रत अनर्थदण्डविरति के पालन द्वारा निष्प्रयोजन मन, वचन, कार्य से पापोपदेश, हिंसादान, दुश्रुति, अपध्यान और प्रमादचर्या द्वारा प्राणियों को पीड़ा देने से त्याग किया जाता है। पापोपदेश के त्याग में श्रावक के लिये उन व्यापारों की चर्चा भी निषिद्ध है जिससे अन्य जीवों की हिंसा हो, साथ ही झूठ, कपट आदि के व्यापार से प्राप्त आजीविका भी श्रावक के लिये निषिद्ध है। हिंसादान के त्याग में श्रावक द्वारा प्राणीवध के अस्त्र–शस्त्र, विष आदि का व्यापार तथा किसी को देना भी निषिद्ध है। प्रमादचर्या के त्याग में निष्प्रयोजन भूमि खोदना, वायु रोकना, अग्नि बुझाना, पानी सींचना, वनस्पति का छेदन–भेदन करना भी निषिद्ध है, श्रावक के लिये। परिमाणव्रत के पालन में श्रावक अपने भोग और उपभोग की सीमा मर्यादित करता है तथा उससे अधिक पदार्थ को अपने पास व्यर्थ इकट्ठा नहीं रखता है। जिससे कि वह पदार्थ अन्य को भी उपलब्ध हो पाता है साथ ही इससे अहिंसा व संतोष की रक्षा होती है। श्रावक द्वारा इन गुणव्रतों के पालन में वह स्वयं का रक्षण तो करता ही है किन्तु साथ ही पर्यावरण में उपस्थित असंख्य त्रास एवं स्थावर जीवों के प्राणों की रक्षा भी करता है।

11. श्रमणाचारः पर्यावरण समस्या एवं संरक्षण

श्रमणधर्म है मुनिधर्म, जो मोक्ष प्राप्ति का साक्षात् मार्ग होता है। श्रमण कठोर तप एवं साधना के पथ का अनुसरण करते हुए मोक्ष प्राप्त करते हैं। मोक्ष प्राप्ति की पात्रता श्रमण धर्म है। इस पात्रता हेतु श्रमण को बारह तप एवं अट्ठाईस मूलगुण अंगीकार करने होते हैं। वैसे तो श्रमणाचार के अन्तर्गत सभी तपों की अपनी–अपनी सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक महत्ता है परन्तु मेरी दृष्टि से इनमें से अवमौदर्य बाह्यतप सम्पूर्ण मानव जाति व जीवधारियों के लिये हितकारी है। चूंकि मानव भौतिकवाद की अंधी दौड़ में अपनी अमर्यादित इच्छाओं व वासनाओ की पूर्ति हेतु ऐसे उद्योग–धन्धे स्थापित कर रहा है जिससे न केवल जंगलों की कटाई हो रही है साथ ही प्र्यावरण प्रदूषित हो रहा है, और कृषि योग्य भूमि घटती जा रही है। जबकि कृषि द्वारा ही हमें खाद्य पदार्थ प्राप्त होते हैं । जब कृषि योग्य भूमि ही नहीं बचेगी तो कहाँ से प्राप्त होगा भोजन। अतः आवश्यक है कि मनुष्य अपनी गलत सोच में परिवर्तन लाये एवं सरल व सादगी पूर्ण जीवन शैली अपनाएँ। ऐसी संयमित एवं सरल जीवन शैली जैनाचार के श्रमणाचार एवं श्रावकाचार में उपदिष्ट है, वैसी अन्य किसी धर्म व दर्शन से प्राप्त नहीं होता है। जैन शास्त्रों में श्रमणपद धारण करने वाले मुनि की चर्चा करते हुए कहा गया है कि "संसार की असारता को अच्छी तरह समझने वाला, वैराग्यवान, प्रकृति में शांत, दृढ़, श्रद्धालु, विनम्र और प्रमाणिक व्यक्ति ही मुनिधर्म अंगीकार करने के अधिकारी है"।

12. पर्यावरण संरक्षण का आधुनिक संदर्भ में प्रासंगिकता

आज मानव द्वारा किए जा रहे अनियंत्रित औद्योगीकरण, शहरीकरण और संसाधनों के अंधाधुंध दोहन ने पर्यावरण को संकट में डाल दिया है। आधुनिक संदर्भ में पर्यावरणीय समस्याएँ केवल प्राकृतिक असंतुलन तक सीमित नहीं हैं, बल्कि वे मानव जीवन, स्वास्थ्य, आर्थिक विकास और सामाजिक स्थिरता से गहराई से जुड़ी हुई हैं। प्रदूषण, वनों की कटाई, जलवायु परिवर्तन, भूजल–दोहन और जैव–विविधता का ह्रास आज सम्पूर्ण विश्व के सामने गंभीर चुनौती के रूप में खड़े हैं। ऐसे में पर्यावरण संरक्षण केवल एक विकल्प नहीं बल्कि मानव अस्तित्व के लिए आवश्यक है।

संरक्षण के उपाय जैसे सतत विकास, अक्षय ऊर्जा का प्रयोग, वृक्षारोपण, जल संरक्षण, कचरा प्रबंधन और पारंपरिक ज्ञान का उपयोग के साथ, जैन आचारमीमांसा के अहिंसा और करुणा की भावना हमें पर्यावरणीय हिंसा जैसे प्रदूषण, वनों की कटाई आदि से दूर करती है। अपरिग्रह हमें उपभोक्तावाद से बचाकर सतत जीवनशैली अपनाने को प्रेरित करता है। संयम और संतुलित उपभोग, सर्व जीव दया एवं सत्य आदि जैसे जैन धर्म के मूल सिद्धांत हमें भविष्य की पीढ़ियों को एक सुरक्षित और संतुलित पर्यावरण देने में सहायक हो सकते हैं। अतः यह अनिवार्य है कि जैन आचारमीमांसा की भावना को अपनाना ही आधुनिक युग में मानवता की सच्ची प्रगति का आधार होगा।

निष्कर्ष

इस अध्ययन में यह प्रयास किया गया है, पर्यावरण महत्व एवं संरक्षण के संदर्भ में जैन आचारमीमांसा की प्रासंगिकता उजागर हो और जन–जन तक फैलाया जाय। प्रत्येक जनसाधारण के लिये जैनाचार को अपने जीवन मे अपनाना जितना स्वयं के लिये हिताकारी है, उतना ही सम्पूर्ण प्रकृति के लिये भी कल्याणकारी है। जैन आचारनीति केवल धार्मिक अनुशासन नहीं है, बल्कि यह एक जीवन–दर्शन है, जो मानव और प्रकृति के बीच संतुलन स्थापित करने पर बल देता है। सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, सर्व जीव दया और संयम जैसे सिद्धांत आज की पर्यावरणीय चुनौतियों से निपटने में अत्यंत कारगर हो सकते हैं। यदि आधुनिक समाज जैन धर्म के इन नैतिक मूल्यों को व्यवहार में लाए, तो पर्यावरण संरक्षण और सतत विकास की दिशा में सार्थक कदम उठाए जा सकते हैं जो प्रकृति और मानव दोनो के लिए सार्थक सिद्ध होगा।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. आशाधर प्रवर पं., (1991), 'सागार धर्मामृत', सम्पादन अनुवाद सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाश चन्द्र सिद्धान्त शास्त्री भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली।
2. सूरि अमृतचंद्र, (1933), 'पुरुषार्थ सिद्धयुपाय', सैन्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ।
3. आचारांग सूत्र, (1957), अखिल भारतीय श्वेताम्बर स्थानक जैन शास्त्रोद्धार समिति।
4. उमास्वामी, (1942), 'तत्वार्थाधिगमसूत्र', सुखलाल संघवी पार्श्वनाथ, विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी।
5. अपराजित, (1980), 'भगवती अराधना', जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर।
6. कुन्दकुन्द आचार्य, (1983), 'समयसार', पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर।
7. जैन पी.सी., (1983), 'सांस्कृतिक अध्ययन', देवनगर प्रकाशन, जयपुर।
8. कुन्दकुन्द आचार्य, (1984), 'पंचास्तिकाय', श्री कुन्दकुन्द कहान जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, जयपुर।
9. वट्टेकर आचार्य, (1984), 'मूलाचार', भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, जयपुर।
10. अमृतचन्द आचार्य, (1995), 'पुरुषार्थसिद्धि–उपाय', श्री दि. जैन स्वाध्याय ट्रस्ट, सोनगढ़।
11. कुन्दकुन्द आचार्य, (1996), 'प्रवचनसार गाथा', श्री कुन्दकुन्द कहान सर्वोदय ट्रस्ट, जयपुर।
12. जैन डॉ. निहालचन्द, (1997), 'साहित्य व पर्यावरण', कुशल प्रिन्टर्स, जयपुर।
13. नेमिचंद्र आ., (1999), 'द्रव्यसंग्रह', श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन पुस्तकालय, वाचनालय, वाराणसी।

14. गोदीका निर्मला, (2005), 'जैन धर्म एवं संस्कृति', आविष्कार पब्लिशर्स, जयपुर।
15. जैन पी.सी., (2007), 'भारतीय दर्शनों में अहिंसा', जैन अनुशीलन केन्द्र, जयपुर।
16. जैन धर्म चंद, (2015), 'जैन धर्म–दर्शन, एक अनुशीलन', प्राकृत भारती अकादमी प्रकाशन, जयपुर।